

प्राचीन भारत में जल प्रदूषण व विशुद्धिकरण उपाय

डॉ० चौधुरी शिवव्रत महान्ति

निदेशक, कृष्णराव शोध संस्थान, मानसेवी व्याख्याता, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति व पुरातत्व विभाग, रानी दुर्गावती विश्व विद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

जल से सम्बन्धित कार्यों में जल के प्रयोग से निकले हुए गन्दे जल को दूषित जल की श्रेणी में रखा जाता है। ऐसे जल में अनेक प्रकार के कार्बनिक पदार्थों का मिश्रण होता है जो कीटाणुओं का खाद्य पदार्थ होता है। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के कीटाणु उसकी ओर आकर्षित होते हैं तथा उसे वे अपना निवास भी बना लेते हैं। कीटाणुओं की लगातार गतिविधियों द्वारा जल अधिक विशाक्त एवं होने लगता है, इसे ही जल का सड़ना कहा जाता है। ऐसे सड़े हुए जल से महामारी तथा बदबू के फैलने की सम्भावना बन जाती है। प्राचीन मानव को जबसे इस प्रकार के जल की हानि पहुँचाने वाली भयावह प्रकृति का ज्ञान हुआ तब से उसने दूषित जल की निकासी के उपायों पर विचार करना आरम्भ किया तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप निम्नलिखित साधनों को अपनाया तथा उनका विकास किया –

1. नाली

सैन्धव संस्कृति के नागरिकों में जल प्रदूषण की रोक-थाम के लिए सजगता थी। उनके नगर व्यवस्थित होते थे तथा सुरक्षा के लिए नगर के चारों ओर ऊँची रक्षा-प्राचीर का निर्माण किया जाता था। प्राचीर से घिरे हुए क्षेत्र में वर्षा-जल की निकासी तथा नगर के प्रत्येक घर से निकलने वाले दूषित जल को विसर्जित करने की उनकी प्रमुख समस्याएँ थीं। अनियोजित तरीके से ऐसे जल को यत्र-तत्र विसर्जित करना महामारी का प्रमुख कारण बन सकता था साथ ही नगर के भीतर आवागमन में भी बाधा उत्पन्न हो सकती थी। अतः नगर नियोजन के समय योजनानुसार प्रदूषित जल की निकासी के लिए नगर में अनेक प्रकार की नालियों की व्यवस्था की गई थी। प्रत्येक आवासीय भवन में चार अथवा पाँच कमरों के साथ रसोई-कक्ष तथा स्नान-कक्ष होते थे। सम्पन्न लोगों के मकानों में शौचालयों की भी व्यवस्था होती थी। इनसे निकलने वाले प्रदूषित जल की सतत निकासी के लिए पकी हुई ईंटों से निर्मित पक्की नालियों की व्यवस्था की गई थी।

नगरों में नालियों के निर्माण की प्रक्रिया सुनिश्चित थी। भूमि में निश्चित गहराई तथा चौड़ाई का ध्यान रखते हुए तथा दूसरी नाली से सम्बन्धित करते हुए आवश्यक लम्बाई का गर्त खोदा जाता था। गर्त की तली में पकी ईंटों को क्षितिजाकार रूप में रखकर उसकी फर्श का निर्माण किया जाता था जिससे तली की मिट्टी घुलकर नाली में नहीं आने पाती थी। गर्त के दोनों पार्श्वों पर ईंटों को क्षितिजाकार रूप में एक के ऊपर एक रखकर नाली की दोनों किनारों की दीवारों का निर्माण किया जाता था। जल प्रवाह में बाधक बनने वाले कचरा, धूल से नालियों को बचाने हेतु उनके ऊपर क्षितिजाकार रूप में ईंटें अथवा पत्थर की पटिया रख दी जाती थीं। ईंटों को जोड़ने के लिए चूने, जिप्सम तथा मिट्टी का प्रयोग किया जाता था। सम्पूर्ण नगर में इस प्रकार की ढकी हुई नालियों की व्यवस्था की जाती थी। निर्धारित समय पर इन नालियों

की साफ-सफाई भी की जाती थी जिससे उत्पन्न हुए अवरोधों से नाली को मुक्त कर जल संचरण को नियमित किया जा सके। स्नान-कक्ष से निकलने वाली नाली, गली की नाली से जोड़ी जाती थी, गली के दोनों ओर नालियों की व्यवस्था की जाती थी जिन्हें आगे चलकर मुख्य सड़क के किनारे-किनारे जाने वाली नालियों से जोड़ दी जाती थीं। मुख्य सड़क की नालियाँ चौराहों के किनारे स्थापित भूमिगत विशाल भाण्डों से सम्बन्धित की जाती थीं। इन्हीं विशाल भाण्डों में एकत्रित प्रदूषित जल का अवशोषण भूमि में निरन्तर होता रहता था। जहाँ पर मृदभाण्ड की व्यवस्था नहीं की जा सकती थी अथवा निरन्तर जल राशि की अधिकता होने की अवस्था में, वहाँ पर नालियों द्वारा जल को नगर के बाहर गर्तों में अथवा ढलान वाली भूमि की ओर विसर्जित किया जाता था जो वर्षा-जल के समान भूमि द्वारा लगातार अवशोषित तथा वाष्पीकृत होता रहता था।

गुजरात में स्थित लोथल नामक पुरास्थल के उत्खनन से सैन्धव संस्कृति से सम्बन्धित उन्नत कोटि की नाली की व्यवस्था प्रकाश में आई है (Indian Archaeology, A Review, 1958-59, Pl.-XIII-A)। छाया-चित्र से स्पष्ट होता है कि छोटे-छोटे स्नान-कक्षों से निकलने वाली नालियाँ एक सीधी रेखा में चलने वाली बड़ी नाली से समकोण पर मिलती हैं। इन दोनों छोटी तथा बड़ी नालियों की पार्श्व दीवारें ईंट की लम्बाई के बराबर मोटी बनायी गई हैं। नालियों की ऊँचाई चार ईंटों की मोटाई के बराबर है। बड़ी नाली की भीतरी चौड़ाई ईंट की लम्बाई के बराबर रखी गई है। सभी नालियाँ ऊपर से खुली हुई हैं जबकि उनको ढँकने की व्यवस्था रही होगी। एक अन्य उदाहरण में कक्ष की दीवार से बाहर निकलने वाली नाली के दूषित जल को विसर्जित कर, सोखने के लिए, भूमि में भाण्ड को ऊर्ध्वाधर स्थापित किया गया है।

राजस्थान में स्थित कालीबंगा पुरास्थल से सैन्धव संस्कृति से सम्बन्धित, पकी ईंटों से निर्मित एक नाली प्रकाश में आई है। नाली के भीतरी भाग की चौड़ाई ईंट की लम्बाई से कम है तथा ऊपर ईंटों को क्षैतिज रूप से आड़े-आड़े रखकर उसे ढँका गया है। यही नहीं ऊपर की बाहरी रिक्त स्थान को ईंटें लगाकर नाली की चौड़ाई के बराबर कर दिया गया है जिससे नाली को ढँकने वाली ईंटें इधर-उधर विस्थापित न हों।

यहीं से सैन्धव संस्कृति से सम्बन्धित लकड़ी की खुली हुई नाली प्रकाश में आई है जो अपने-आप में विशिष्ट है (Indian Archaeology, A Review, 1961-62, Pl.-LXIV- B)। इस नाली का निर्माण विशाल एवं सीधे वृक्ष के मुख्य तने को लम्बाई के अनुरूप क्षैतिज रूप से काट कर तथा बीच के भाग को कुरेद कर नाली का रूप दिया गया है। इसे दीवार के बाहर निकलते हुए बाहर की ओर थोड़ा सा झुका हुआ स्थापित किया गया है जिससे जल का विसर्जन सरलता से हो सके।

उक्त स्थल से ही सैन्धव संस्कृति से सम्बन्धित एक अन्य नाली प्रकाश में आई है जिसकी दीवार को बाहर, भूमि में गड़े एक

विशाल सोक-भाण्ड से सम्बन्धित किया गया है (Indian Archaeology, A Review, 1961-62, Pl.-LXV- A)। इस व्यवस्था की यह विशिष्टता है कि भाण्ड की बारी पर चारों ओर केन्द्रोन्मुखी रूप में ईंटों को रखा गया है जिससे बाहरी मिट्टी के प्रवेश को रोका जा सके। प्रमाणों के अभाव में, इस भाण्ड को ऊपर से ढँका गया था अथवा नहीं के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

सैन्धव संस्कृति में कच्ची नाली की व्यवस्था भी यदा-कदा दिखलाई देती है। उक्त स्थल से ही भूमि की मिट्टी को काट कर बनाई गई नाली प्रकाश में आई है जो अस्थायी जल विसर्जन व्यवस्था की ओर संकेत करती है (Indian Archaeology, A Review, 1961-62, Pl.-LXV- B)। नाली का सम्बन्ध भूमि में स्थापित भाण्ड से की गई है, भाण्ड क्षतिग्रस्त अवस्था में है। ऐसी नालियों की चौड़ाई तथा लम्बाई कम होती थी क्योंकि मिट्टी के कटकर बहने अथवा निक्षेपित होने की प्रकृति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले अवरोधों के कारण इनके रख-रखाव पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती थी।

विशाल नाली की परम्परा भी कालीबंगा पुरास्थल से प्रकाश में आई है जिसे मुख्य नाली की संज्ञा दी जा सकती है (Indian Archaeology, A Review, 1961-62, Pl.-LXIII- B)। इस ढँकी हुई नाली की यह विशिष्टता है कि इसकी ऊँचाई 6 पकी हुई ईंटों की मोटाई के बराबर है। भीतरी भाग लगभग दो ईंटों की लम्बाई के बराबर है। भूमि पर ईंटों को आड़ा रख कर नाली के आधार (फर्श) का निर्माण किया गया है। मोहनजोदड़ो के महा-स्नानागार (जल-कुण्ड) से दूषित जल की निकासी के लिए पकी ईंटों से निर्मित तोड़ेदार नाली की व्यवस्था की गई थी।

नाली को और अधिक दृढ़ता प्रदान करने के लिए नाली की आड़ी ईंटों की दीवार के बाहरी भाग पर लम्बाई के अनुरूप भी ईंटों को सटाकर रखने की परम्परा भी देखने को मिलती है। यहीनहीं घर से बाहर जल को निकालने के लिए दीवार से बाहर निकलते हुए सादे प्रणाल तथा खड़ी ईंटों की निर्मित नाली का प्रयोग भी दिखलाई देता है। इस प्रकार सैन्धव संस्कृति के लोगों ने हर प्रकार की नालियों का प्रयोग अपनी छोटी-बड़ी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया।

भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में तो सैन्धव संस्कृति के रूप में नगर सभ्यता के दर्शन होते हैं परन्तु शेष भारत में अनियोजित ढंग से बसी हुई मध्य-पाषाणिक, नव-पाषाणिक तथा ताम्र-पाषाणिक संस्कृतियों के जो पूर्ण रूप से ग्रामीण संस्कृतियाँ थीं। ग्रामीण संस्कृतियों से सम्बन्धित पुरास्थलों के उत्खनन में नाली व्यवस्था नहीं दिखलाई देती है जिससे स्पष्ट होता है कि उन लोगों में जल प्रदूषण को रोकने से सम्बन्धित पूर्ण जागरूकता नहीं थी। ये संस्कृतियाँ सैन्धव संस्कृति के समकालीन थी परन्तु प्रेरणा के अभाव में जल निकासी हेतु उन लोगों ने पकी ईंटों की बनी नालियों का प्रयोग नहीं किया जिसका प्रमुख कारण सम्भवतः उनकी कमजोर आर्थिक स्थिति अथवा अशिक्षा रही होगी।

ग्रामीण संस्कृतियाँ, सैन्धव संस्कृति की अपेक्षा आमतौर पर बहुत छोटी होती थीं, वे छोटे-छोटे समुदायों में यत्र-तत्र, नदियों अथवा नालों के समीप बसते थे, वे अपनी आवश्यकतानुसार अपना स्थान परिवर्तन कर लेते थे, उनका जीवन काल अपेक्षाकृत छोटा होता था, यही नहीं उनमें केन्द्रीय सत्ता का अभाव भी था। लोग जल से सम्बन्धित अनेक कार्य नदियों जैसे जल स्रोतों के किनारे ही करते थे ;मल त्याग, वस्त्र धोना, स्नान, पशुओं को नहलानाद्वय फलस्वरूप आवासीय क्षेत्रों में दूषित जल की मात्रा नगण्य थी। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति की इन्हीं प्रकृति के कारण समकालीन सैन्धव संस्कृति की सुव्यवस्थित योजना का प्रभाव उनपर नहीं पड़ा। अतः उन्होंने सीमित दूषित जल की निकासी हेतु पकी ईंटों की नालियों का निर्माण नहीं किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण संस्कृतियों के अनियोजित ढंग से बसने के कारण पक्की नालियों की व्यवस्था कर पाना उनके लिए सरल भी नहीं था। यही नहीं आवासीय क्षेत्र में जल के सीमित उपयोग से जल वाष्पीकृत होकर सूख जाता था। जो लोग जल सम्बन्धी कार्य के लिए जल स्रोतों पर नहीं जाते थे ऐसे कुछ लोगों के समक्ष ही आवासीय क्षेत्र में दूषित जल निकासी की समस्या रही होगी। वे अपने निवास के बाहर खोदे गए गर्तों में भूमि में काटी गई कच्ची नालियों की सहायता से दूषित जल के विसर्जन की व्यवस्था करते रहे होंगे। इसी प्रकार भूमि अथवा टीले के ढलानों पर बसे हुए लोग दूषित जल का विसर्जन ढलानों की ओर करते रहे होंगे। अतः उन्हें पक्की नाली के निर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी।

पक्की नालियों की उपयोगिता प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के नगरों के बसने के साथ-साथ पुनः दिखलाई देने लगती है। मथुरा के पुरास्थल के उत्खनन में काल-2 से सम्बन्धित पक्की ईंटों से निर्मित जो नाली प्रकाश में आई है उसकी दीवारों की ईंटों को खड़ा करके रखा गया है। ऊपर से नाली खुली हुई है (Indian Archaeology, A Review, 1954-55, Pl.-XXVIII)। इसी प्रकार की नाली नादनेर के समीप स्थित पुरास्थल के उत्खनन से काल-2 से प्राप्त हुई है। ईंट की मोटाई के बराबर मोटी दीवार होने के कारण इस प्रकार की नालियाँ अधिक टिकाऊ नहीं रही हैं, इनके रख-रखाव पर अधिक ध्यान रखना पड़ता था क्योंकि अत्यन्त पतली दीवार होने के कारण वे शीघ्र अपने स्थान से विस्थापित हो जाती थीं।

श्रृंगवेरपुर के उत्खनन में पक्की ईंटों से निर्मित नाली प्रकाश में आई है। अपनी मूल अवस्था में वह प्रदूषण को रोकने हेतु ऊपर से ढँकी हुई रही होगी। नई दिल्ली में स्थित पुराना किला के उत्खनन से प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित ईंटों की निर्मित साधारण नाली प्रकाश में आई है। उज्जैन के निकट स्थित गढ़कालिका टीले के उत्खनन में काल-3 (200 ई.पू. से 1300 ई.सवी तक) से सम्बन्धित पक्की ईंटों से निर्मित नालियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

आवरा में स्थित पुरास्थल के उत्खनन में तृतीय काल (500-100 ई. पू.) से सम्बन्धित जल निकासी की उन्नत योजना प्रकाश में आई है। दूषित जल की निकासी के लिए लोग पकी मिट्टी से निर्मित पाइप का प्रयोग करते थे।

रूपड़ (जिला अम्बाला) में स्थित पुरास्थल के उत्खनन में काल-3 से सम्बन्धित पक्की ईंटों से निर्मित चापाकार दीवार में बनी बड़ी नाली प्रकाश में आई है। यह नाली, भीतर के वर्षा जल अथवा दूषित जल को बाहर निकालने के लिए बनाई गई थी (Indian Archaeology, A Review, 1953-54, Pl.-II-A)। इसी प्रकार से प्राचीर से घिरे हुए नगर का प्रदूषित जल को व्यवस्थित ढंग से नगर से बाहर ले जाने हेतु ईंटों की नाली का निर्माण दिखलाई देता है (Indian Archaeology, A Review, 1954-55, Pl.-IX)। नाली को अनेक ईंटों को चिनाई करके एक सरल रेखा में निर्मित किया गया है।

नाली में मोड़ों को कम करके प्रदूषित जल को गति से निमालने में सहायता मिलती रही होगी। कोल्हुआ में इसी प्रकार की ईंटों से निर्मित नाली प्रकाश में आई है (Indian Archaeology, A Review, 1990-91, Pl.-III-B) जो नीचे गहराई पर बनी हुई है।

नई दिल्ली में स्थित पुराना किला के प्राचीन टीले के उत्खनन से प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की ईंटों से निर्मित नाली प्रकाश में आई है। नाली के निर्माण में पतली एवं चौड़ी ईंटों की चिनाई करके निर्मित किया गया है। नाली के धररातल पर क्षैतिज रूप में ईंटों को बिछाकर उसकी फर्श का निर्माण किया गया है जिससे जल में मिट्टी को घुलने से रोका जा सके।

कौशांबी के उत्खनन में पत्थर की बनी नाली उजागर हुई है। इस नाली की यह विशिष्टता है कि नाली के निर्माण में पत्थरों को केवल भीतर की ओर से भलीभाँति तराशा गया है, बाहर की ओर उन्हें केवल एकरूपता देने लायक ही काटा गया है।

तक्षशिला के भीर टीले के उत्खनन से प्रदूषित जल की निकासी के सम्बन्ध में प्रकाश पड़ता है। गलियों में पक्की ईंटों की ढँकी हुई नालियाँ प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार नगर जैसे आवासीय क्षेत्र में दूषित जल की निकासी के लिए नालियों के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। मन्दिरों में जल विसर्जन के लिए प्रणाल बनाने की व्यवस्था गुप्त काल के प्रारम्भिक मन्दिरों से ही दिखलाई देने लगती है भले ही वह गुहा मन्दिर हो अथवा संरचनात्मक मन्दिर, उनके छत अथवा फर्श पर की गई नालियों की व्यवस्था स्पष्ट दिखलाई देती है। साँची के मन्दिर क्रमांक-17 के गर्भगृह तथा मण्डप की छत पर, वर्षा जल के निकासी हेतु पत्थर की पटियों में ढलान देते हुए तराशा गया है तथा पत्थर के प्रणाल की व्यवस्था की गई है। मन्दिरों के गर्भगृह से जल निकासी के लिए भी दीवारों के फर्श भाग पर प्रणाल की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार की व्यवस्था उदयगिरी की गुहाओं, तिगवा के कंकाली मन्दिर, कूँडा के शंकरमठ मन्दिर आदि में स्पष्ट दिखलाई देती है।

लिंग पर अर्पित जल को विसर्जित करने हेतु व्यवस्था भी की जाती रही है। लिंग के सम्मुख फर्श के नीचे ईंटों से नाली के निर्माण का उदाहरण भी दिखलाई देता है।

समयानुसार वास्तु कला के विकास के साथ-साथ प्रणाल के अलंकरण में भी कलाकारों ने अपनी कला-प्रतिभा दिखलाई एवं प्रणाल के बाहरी छोर को विभिन्न प्रकार की आकृतियों अथवा मकर-मुखों से अलंकृत किया। इस प्रकार के प्रणालों का निर्माण पत्थरों को तराश कर किया जाता था जिससे वे अधिक टिकाऊ तथा सुन्दर बन पड़ते थे।

गोरज (महादेवपुर, बड़ोदरा जिला) में स्थित शिव मन्दिर के उत्खनन में पत्थर की दो नालियाँ प्राप्त हुई हैं जो कि मन्दिर से सम्बन्धित रही हैं। ये नालियाँ लम्बे एकात्मक पाषाण खण्डों को काट एवं तराश कर निर्मित की गई हैं। इस लम्बी नाली को पकी ईंटों से बने, खुले हुए, भूमिगत सोकगर्त से सम्बन्धित किया गया है। प्रणाल का छोर हल्का सा अलंकृत तथा घुमावदार बना हुआ है। हलेविडु (जिला हासन) के होयसलेश्वर मन्दिर (11-12वीं शती ईसवी) से निकलने वाले प्रणाल को पत्थरों से निर्मित, ऊपर से खुले हुए भूमिगत सोकगर्त से सम्बन्धित किया गया है। इस सोक-गर्त का भीतरी भाग सीढ़ियों जैसे प्रक्षेपों से युक्त है (Indian Archaeology, A Review, 1984-85, Pl.-16)।

बल्लालधीपी, जिला नाडिया के उत्खनन में 10-12वीं श.ई. के समय का ईंटों से निर्मित पंचरथ मन्दिर से सम्बन्धित, मकर-मुख युक्त पत्थर का प्रणाल एवं पत्थरों से निर्मित कूप प्रकाश में आए हैं जो प्रदूषित जल के विसर्जन हेतु निर्मित किए गए थे। कूप के निर्माण में जिन पत्थरों का उपयोग हुआ है वे भीतर की ओर से तराशे हुए हैं परन्तु बाहर की ओर से वे अनियमित आकार के हैं। इस प्रकार प्रदूषित जल को यत्र-तत्र फैलाने के बजाए प्रदूषण रहित वातावरण को बनाए रखने के लिए प्रणाल के छोर पर सोक-गर्त का निर्माण किया गया जो कि प्राचीन मानव का प्रदूषण के रोक-थाम की दिशा में सजगता की ओर संकेत करता है।

2. सोक-गर्त

उन गर्तों को सोक-गर्त कहा जा सकता है जिन्हें मानव ने जल विसर्जन हेतु भूमि को खोद कर निर्मित किए थे। मानव के सामाजिक प्राणी बनने के साथ ही इस प्रकार के गर्तों के प्रयोग की बात को नकारा नहीं जा सकता। सभी प्रकार के कूपों के विकास की यही प्रारम्भिक अवस्था रही होगी जिससे प्रेरित होकर

इष्टिका-कूप, भाण्ड-कूप तथा वलय-कूप का निर्माण किया गया होगा।

सैन्धव संस्कृति में आमतौर पर नगर के प्रदूषित जल को नगर के बाहर नालियों द्वारा ढलानों की ओर विसर्जित किए जाने का प्रावधान था। यह भी सम्भव है कि इतनी विकसित सभ्यता से सम्बन्धित लोग नगर के बाहर भी प्रदूषित जल को अनियंत्रित रूप से इधर-उधर फैलाने से रोकने के लिए गर्त का निर्माण कर उसमें जल को विसर्जित करते रहे होंगे।

कक्रेहटा नामक पुरास्थल के उत्खनन से अलग-अलग गहराइयों के, जुड़े हुए, दो सोक-गर्त प्रकाश में आए हैं। दाहिनी ओर के ऊर्ध्वाधर सोक-गर्त की तली में केन्द्र का भाग नीचे की ओर उत्तल है जो गर्त खोदने की क्रिया की ओर संकेत करता है। इस चिह्न को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन मानव कूप खोदने के लिए एक ऐसे उपकरण का उपयोग करता था जिसका खुदाई करने वाला छोर बाहर की ओर से उत्तल होता था।

ये कूप अधिक गहरे नहीं होते थे फिर भी चूँकि वृत्ताकार सोक-गर्त का व्यास इतना नहीं होता था कि चार अथवा पाँच मीटर की गहराई तक उसमें बैठकर गर्त खोदा जा सके। अतः यंत्र के प्रयोग की बात को नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार के सोक-गर्त कच्चे बनाए जाते थे जिनसे इन पर खर्च बहुत कम होता था, इसलिए इनका चलन आम था। कच्चे होने के कारण ये टिकाऊ नहीं होते थे। नमी से उनकी भित्ति की मिट्टी गलकर तली में निरन्तर जमा होती रहती थी, परिणामस्वरूप वे अनियमित आकार के होने के साथ-साथ शीघ्र भर भी जाते थे।

आवरा (तृतीय काल) एवं त्रिपुरी (तृतीय काल) के उत्खनन से प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के सोक-गर्त प्राप्त हुए हैं। ये सोक-गर्त अस्थायी अर्थात् बिना पक्की दीवार के, कच्चे बनाए गए थे।

3. मृदभाण्ड-कूप

सैन्धव संस्कृति के लोगों ने नालियों से लाए गए जल को चौराहों के समीप गर्त खोद कर भूमि में सीधा (ऊर्ध्वाधर) स्थापित विशाल मृदभाण्ड में प्रदूषित जल को विसर्जित करने का प्रावधान किया था। इस पद्धति से भाण्ड में एकत्रित जल, भाण्ड के अति सूक्ष्म रन्ध्रों से होता हुआ भूमि द्वारा अवशोषित होता था। भाण्ड का प्रयोग इसलिए किया जाता था कि वे जानते थे कि गर्त के किनारे की मिट्टी गीली होकर गर्त को अनावश्यक रूप से न भर दे अन्यथा किए गए गर्त की उपयोगिता शीघ्र समाप्त हो जावेगी। भाण्ड के चारों ओर ईंटों को भी बिछाया गया था जिससे ऊपरी सतह की मिट्टी वर्षा जल से कटकर अन्दर न जाने पावे। कच्ची नालियों से भी भाण्ड-कूपों को जोड़ा गया था। इससे स्पष्ट होता है कि नगर के भीतर प्रदूषित जल की निकासी भलीभाँति करना अनिवार्य था भले ही जल विसर्जन अल्पकालिक क्यों न हो।

नागदा के उत्खनन में जल विसर्जन हेतु एक लम्बोतरा भाण्ड को भूमि में गर्त खोद कर स्थापित किया गया था। आकार में यह इतना विस्तृत है कि साधारण मात्रा में जल विसर्जन हेतु वह सार्थक भूमिका अदा करता रहा होगा (Indian Archaeology, A Review, 1955-56, Pl.- XXV-A)। भाण्ड की दीवार की मोटाई अधिक है जिससे वह टूटे बिना अधिक समय तक उपयोगी बनी रहे।

ताम्र-पाषाणिक काल में कूप जैसा ऊर्ध्वाधर गर्त (सोक-गर्त) खोदने के पश्चात् उसमें नीचे से ऊपर तक अनेक भाण्डों को एक के ऊपर दूसरे को रखकर भाण्ड-कूप का निर्माण यदा-कदा किया जाता रहा। इस प्रकार के कूप के जल का अवशोषण पहले की अपेक्षा तो अधिक था परन्तु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों (आकार की अपेक्षा अवशोषण कम, ऊपरी भाण्ड में कचरा शीघ्र जम जाने के कारण अवशोषण का बन्द हो जाना, भाण्डों का शीघ्र टूटना और मिट्टी के

भर जाने के फलस्वरूप अवरोध उत्पन्न हो जाना आदि) के कारण इनका चलन बाद में देखने को नहीं मिलता।

प्रकाश के उत्खनन में काल-2 से सम्बन्धित भाण्ड-कूप उजागर हुआ है (Indian Archaeology, A Review, 1954-55, Pl.-XXI-A)। कूप के निर्माण में सात विशाल भाण्डों का प्रयोग हुआ है। ये भाण्ड आधार पर क्षैतिज रूप से कटे हुए हैं तथा ऊर्ध्वाधर रूप में एक के ऊपर एक रखे हुए हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भाण्डों की बारी का व्यास आधार के व्यास से कम रखा गया है जिससे उन्हें एक के ऊपर एक को सरलता से रख कर ऊर्ध्वाधर कूप का निर्माण किया जा सके।

प्रकाश के समान वैशाली के उत्खनन में काल-2 से सम्बन्धित लम्बोतरा भाण्डों से निर्मित कूप पाए गए हैं। लम्बोतरा भाण्डों को एक के ऊपर दूसरे को स्थापित करने में सरलता होती है।

हस्तिनापुर के तृतीय काल से सम्बन्धित काली ओपदार पात्र परम्परा के समय के सैन्धव संस्कृति के समान एकल सोख्ता-भाण्ड प्रकाश में आए हैं।

4. वलय-कूप

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में वलयों की सहायता से निर्मित कूप का प्रयोग होने लगा। ये कूप पकी हुई मिट्टी के छल्लों से बन होते हैं जो जल तथा अन्य प्रदूषण की रोकथाम के लिए कभी प्रयुक्त होते थे। पीने योग्य जल वाले कूपों से इनकी भिन्नता स्थापित करने के लिए जल की प्रकृति तथा भू-सतह के नीचे की संरचना, उसकी प्रकृति अथवा इसी प्रकार की सम्बन्धित मूलभूत बातों को समझना आवश्यक होगा। दूषित जल की निकासी के लिए प्रयुक्त कूप की प्रकृति स्वच्छ जल के कूपों से भिन्न अर्थात् ठीक विपरीत होती है। कूपों को निर्मित करने के लिए उन्हें इतना गहरा खोदा जाता था ताकि वे भूमिगत जल के सम्पर्क में न आवें क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य दूषित जल को अवशोषित करना होता था नाकि पीने के योग्य जल प्राप्त करने का। अतः इस प्रकार की व्यवस्था तभी सफल होती है जब इसकी अधिकतम गहराई भौम-जल-स्तर के ऊपर अर्थात् भूमिगत जल के ऊपर रहे, अन्यथा प्रदूषित जल भूमिगत जल में प्रविष्ट होकर उसे ही प्रदूषित कर देगा। वास्तव में इन कूपों की गहराई भौम-जल-स्तर के बहुत ऊपर रहती थी। क्योंकि नदियों के तटों पर बाढ़ से सुरक्षा के लिए मानव ऊँचे स्थलों का चयन करता था। अतः भूमिगत जल से ये कूप बहुत ऊपर ही रहते थे। भूमिगत जल के स्तर में कमी होने पर इन कूपों से दूषित जल मृदा के रन्ध्रों से छनता हुआ भूमिगत जल में समाहित होता रहता था।

दूषित जल की छनने अथवा अवशोषण होने की प्रक्रिया जलवायु, मृदा की संरचना, प्रकृति तथा ऊपरी जल के दबाव पर निर्भर करती है। शुष्क एवं उष्ण जलवायु प्रधान क्षेत्रों में वाष्पीकरण अधिक होता है जबकि आर्द्र जलवायु वाले क्षेत्रों में वायु का संतृप्तावस्था के निकट होने के कारण वाष्पीकरण अपेक्षाकृत कम होता है। जल के भूमि में प्रवेश होने की मात्रा शैलों की पारगम्यता पर विशेष रूप से निर्भर करती है। अतः पुरास्थलों के नीचे की भूगर्भ संरचना दूषित जल के अवशोषण की मात्रा को प्रभावित करती है। भूमि में पर्याप्त सरन्ध्रता होना वलय-कूप की उपयोगिता को अधिक समय तक बनाए रखने में सहायक होता है।

वलय-कूप की सफलता जल अवशोषण के उपर्युक्त सिद्धान्त पर विशेषरूप से आधारित होता है। सैन्धव संस्कृति के समय से ही मानव ने जल अवशोषण के इस गुण को समझ लिया था। उक्त पद्धति से खोदे गए गर्त में नीचे से ऊपर तक पकी हुई मिट्टी के बने वलयों को स्थापित किया जाता था जिसे आज वलय-कूप के नाम से जाना जाता है। वास्तव में ये वलय लगभग दस से पन्द्रह सेंटीमीटर ऊँचे तथा पचहत्तर सेंटीमीटर व्यास के बनाए जाते थे

यही नहीं प्रायः प्रत्येक वलय के दोनों छोर अधिक मोटे तथा क्षैतिज रखे जाते थे तथा भट्टी में पका कर उन्हें पक्का कर लिया जाता था। लगभग एक ही व्यास तथा मोटे छोर होने के कारण उन्हें एक के ऊपर एक को रखने में सरलता होती थी तथा वे टूटते नहीं थे। इसप्रकार स्थापित दो वलयों के मध्य क्षैतिज रन्ध्रता सम्पूर्ण वृत्त के अनुरूप प्राप्त होती थी जिससे दूषित जल का अवशोषण गर्त की प्रत्येक ऊँचाई पर सम्भव होता था। इस प्रकार के कूप उपयोगिता के दृष्टिकोण से अधिक उत्तम थे क्योंकि इनकी तली का भाग भूमि द्वारा अवशोषण हेतु पूर्णरूप से खुला रहता था। अतः कुल मिलाकर इस व्यवस्था में जल का अवशोषण अधिक होता था। फिर भी टूटे-फूटे एवं अपने मूल स्थान से विस्थापित वलयों को देखने से स्पष्ट होता है कि ये कूप भी चिर-स्थायी नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक दो वलयों के मध्य में बनने वाले क्षैतिज झिरी के कारण उसमें से जल निकल कर गर्त की सतह को गीला कर देता था। गीला होजाने पर गर्त की सतह में लचीलापन आ जाता था जिससे वलय-कूप में भरा पानी एवं कचरा अधिक लचीली सतह की ओर दबाव डालकर सम्बन्धित वलय को उसके मूल अक्ष से थोड़ासा विस्थापित कर देता था। इससे उनका मूल अथवा वास्तविक ऊर्ध्वाधर आकार बिगड़ जाता था और अनावश्यक मिट्टी के प्रवेश से वे शीघ्र भरने लगते थे।

जल अवशोषण के अतिरिक्त वलय-कूप मल-त्याग के अच्छे साधन थे। उत्खनन में उनकी तली में एकत्रित मल तथा मल-त्याग के समय सौंच के लिए प्रयुक्त लोटे पाए गए हैं जो उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। सम्भवतः कूप के ऊपरी भू-सतह पर लकड़ी की क्षैतिज बैठकी बनाई जाती थी जिसपर बैठकर मल-त्याग किया जाता रहा होगा। यही नहीं कूप में पाई जाने वाली राख, टूटी-फूटी एवं अनुपयोगी पुरावस्तुएँ, मिट्टी के बर्तन आदि कूड़ादान के रूप में भी कूप को उपयोग किए जाने की ओर संकेत करते हैं।

वलय-कूप के भर जाने पर वे अनुपयोगी हो जाते थे तथा आगे के उपयोग के लिए समीप में ही अन्य कूप का निर्माण कर लिया जाता था। कालान्तर में उनपर जमने वाली मिट्टी के द्वारा पड़ने वाले दबाव से वे टूट-फूट जाते थे। यही कारण है कि आज ऐसे कूप सुरक्षित अवस्था में बहुत कम प्राप्त होते हैं।

रूपड के उत्खनन में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के पतली ईंटों से निर्मित तीन कूप तथा एक वलय-कूप प्रकाश में आए हैं (Indian Archaeology, A Review, 1953-54, Pl.-II, B) जिनकी गहराई अधिक नहीं है। ये चारों कूप एक-दूसरे के आस-पास स्थित हैं जो प्रदूषित जल को सोखने के उद्देश्य से निर्मित किए गए थे। इष्टिका कूपों का व्यास वलय-कूप से अधिक है। दाईं ओर के इष्टिका-कूप का निर्माण पहले किया गया था जिसके भर जाने के पश्चात् उसी के बगल में वलय-कूप का निर्माण किया गया था। कूप निर्माण में पतली एवं पकी हुई ईंटों का उपयोग किया गया है। वलय-कूप के चित्र को देखने से स्पष्ट होता है कि ऊपर के वलयों के भार से पड़ने वाले दबाव से नीचे के कमजोर वलयों के टूट-फूट तथा धँसने से बचाने के लिए तली में पकी ईंटों का आधार निर्मित किया गया है।

मथुरा के उत्खनन में काल-2 से सम्बन्धित वलय-कूप प्रकाश में आया है जिसके टूटे हुए चार वलय छाया-चित्र में दिखलाई दे रहे हैं। उपयोग में लाए गए वलयों की ऊँचाई तो अधिक है परन्तु मोटाई कम है। इसके समीप में एक पक्की नाली भी है परन्तु आपस में दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनके धरातल को देखते हुए स्पष्ट होता है कि वलय-कूप का निर्माण बाद के परवर्ती काल में किया गया था।

तामलूक के काल-3 से सम्बन्धित कम ऊँचाई के वलयों से निर्मित दो कूप प्रकाश में आए हैं (Indian Archaeology, A Review, 1954-55, Pl.-XXXVI-B)। वलय अपेक्षाकृत बहुत कम ऊँचाई के

हैं तथा कुछ वलय टूट-फूट कर अपने मूल अक्ष से विस्थापित हो चुके हैं। पुराना किला (नई दिल्ली) से भी इसी प्रकार के कूप उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।

उज्जैन के काल-1 से ऊँचे पार्श्व वाले वलयों से निर्मित दो कूप प्रकाश में आए हैं जिनमें से बाईं ओर का कूप अधिक गहरा है (Indian Archaeology, A Review, 1955-56, Pl.-XXVII)। पार्श्व अधिक ऊँचे होने के कारण प्रत्येक वलय अनेक भागों से टूटा हुआ है जो कि कूप के भीतरी दबाव के अधिक होने की दशा पर प्रकाश डालते हैं। पास-पास में स्थित होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि एक कूप के भर जाने पर उसी प्रकार के दूसरे कूप को खोद कर निर्मित किया गया।

बेसनगर के उत्खनन में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल (काल-2) से सम्बन्धित वलय-कूप पाया गया है। इसके ऊपरी भाग पर वृत्ताकार रूप में पत्थर रखे हुए हैं (Indian Archaeology, A Review, 1975-76, Pl.-XLII-A)। इन पत्थरों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कूप के चारों ओर पत्थर की फर्श का निर्माण किया गया था। इस प्रकार की व्यवस्था से कूप के समीप बैठकर स्वच्छता सम्बन्धी कार्य किये जाते रहे होंगे। समीप में दूसरे वलय-कूप के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। यहीं से काल-2 से सम्बन्धित दो अन्य कूप भी पाए गए हैं जिनके प्रत्येक वलय की ऊँचाई अपेक्षाकृत अधिक है (Indian Archaeology, A Review, 1964-65, Pl.-XV)।

तेर के उत्खनन में पूर्व-सातवाहन काल का एक वलय-कूप प्रकाश में आया है (Indian Archaeology, A Review, 1966-67, Pl.-XIII-A)। इस कूप के वलय वृहताकार हैं तथा रूपरेखा में आम वलयों से भिन्न प्रकार के हैं। इस कूप के निर्माण में प्रयुक्त सभी वलयों की ऊँचाई अधिक है तथा उनकी किनारी भी अपेक्षाकृत कम मोटाई की है, ऊपरी भाग नॉद जैसे वलय से मंडित है जिसके दबाव से नीचे के सम्बन्धित वलय भंगुर अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं।

गनवारिया के काल-3 से कम ऊँचाई वाले पतले वलयों से निर्मित कूप उजागर हुआ है (Indian Archaeology, A Review, 1974-75, Pl.-XXIV-B)। इन वलयों की किनारी बाहर की ओर निकली हुई है तथा चौड़ी है। कालान्तर में इस कूप पर एक भवन से सम्बन्धित ईंटों की मोटी दीवार निर्मित की गई।

भावर (जिला भण्डारा) के उत्खनन से सातवाहन काल का वलय-कूप प्रकाश में आया है। इनमें प्रयुक्त वलयों की ऊपरी परिधि मनकेदार है तथा बाहर की ओर निकली हुई है।

बालाथल (जिला उदयपुर) से एक वलय-कूप उजागर हुआ है जो आमतौर पर उपयोग में आने वाले वलय-कूप के समान ऊँचे वलयों से निर्मित है। वलय बड़े हैं तथा उनकी किनारी (बारी) भी बाहर की ओर निकली हुई है।

आदम, जिला नागपुर से उजागर हुए गहरे वलय-कूप के वलय लक्षण विहीन बारी के हैं जिससे उनकी बाहरी सतह सपाट दिखलाई देती है। इस कूप के वलयों की ऊँचाई अपेक्षाकृत अधिक है। मोटे वलय होने के कारण कूप में स्थिरता एवं टिकाऊपन है।

कम्बरमेडू (जिला तंजावुर) के उत्खनन में टूटा हुआ वलय-कूप प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि वलय-कूप भारत के एक विशाल भू-भाग में प्रचलित रहा।

कक्रेहटा (जिला जबलपुर) के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से वलय-कूप प्रकाश में आए हैं। इनके अन्दर अनेक प्रकार की टूटी-फूटी वस्तुएँ पाई गई हैं (चित्र-94)। इससे स्पष्ट होता है कि अनुपयोगी वस्तुओं को इधर-उधर फेंकने के बजाए सोक गर्त के समान वलय-कूप में भी फेंक दिया जाता था।

त्रिपुरी के उत्खनन में तृतीय काल (300-100 ई.पू.) से सम्बन्धित वलय-कूप प्राप्त हुए हैं। इनका प्रयोग चतुर्थ काल (100 ई.पू. से 200 ई.सवी) में भी होता रहा। इन्हीं से मेल खाते हुए, बेसनगर के उत्खनन से द्वितीय काल से सम्बन्धित वलय-कूप प्राप्त हुए हैं।

हस्तिनापुर के तृतीय काल से सम्बन्धित काली ओपदार पात्र परम्परा के समय के वलय-कूप के साथ-साथ सोख्ता-भाण्ड भी प्रकाश में आए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वलय-कूप के उद्भव के बाद भी प्रदूषित जल निकासी के लिए भाण्डों का प्रयोग हो रहा था। इसी प्रकार तक्षशिला के भीर टीले के उत्खनन से वलय-कूप के साथ-साथ भाण्डों के साक्ष्य भी मिले हैं।

राजगिर के उत्खनन में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित वलय-कूप प्रकाश में आया है। इस कूप के केवल तीन वलय ही पाए गए हैं जो कि अति भंगुर अवस्था में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वलयों का निर्माण अच्छी मिट्टी से नहीं किया गया था अथवा मिट्टी के ऊपरी दबाव से उसके वलय टूट कर नष्ट हो गए।

राजघाट के उत्खनन में दो वलय-कूप पाए गए हैं (Indian Archaeology, A Review, 1961-62, Pl. XCI-A)। बाईं ओर का वलय-कूप पतले वलयों से निर्मित है तथा अधिक प्राचीन है। दाईं ओर का वलय-कूप बाद में निर्मित किया गया था, इस कूप के वलय अधिक ऊँचे हैं, प्रत्येक वलय का ऊपरी वृत्त मनकेदार तथा आधार सादा एवं सपाट है। आधार भाग का व्यास मनके वाले भाग के व्यास के तुल्य रखा गया है जिससे एक वलय के आधार भाग को दूसरे वलय के मनके वाले ऊपरी भाग पर आसानी से रख कर स्थिरता प्रदान की जा सके।

सोहागौरा उत्खनन से प्रकाश में आए दो वलय-कूपों में से बाईं ओर स्थित कूप अधिक गहरा है तथा दाईं ओर का कम। दोनों ही ऊँचे वलयों से निर्मित हैं (Indian Archaeology, A Review, 1961-62, LXXXIX-B)। प्रत्येक वलय के दोनों छोर बाहर की ओर निकले हुए हैं।

तलकद, जिला, मैसूर में चोल कालीन एक साधारण वलय-कूप प्रकाश में आया है (Indian Archaeology, A Review, 1992-93, PL-XVII-A)। इसके प्राप्त होने से यह स्पष्ट होता है कि 12वीं शताब्दी ईसवी तक वलय-कूप का चलन प्रदूषित जल के विसर्जन के लिए होता रहा।

उक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत की नगर योजना में प्रदूषित जल को निवास से दूर स्थानान्तरित करने के लिए नालियों की अहम भूमिका रही है। यही नहीं उस जल को इधर-उधर फैलने से रोकने के लिए कच्चे अथवा पक्के सोक-गर्तों, सोक-भाण्डों, भाण्ड-कूपों, वलय-कूपों तथा इष्टिका-कूपों का स्थिति एवं आवश्यकतानुसार उपयोग हुआ है। सम्पूर्ण अध्ययन से स्पष्ट होता है कि एक कूप का जीवन-काल उसके निर्माण-तकनीक, प्रयुक्त सामग्री का स्तर, गहराई, व्यास, भूमि की अवशोषण क्षमता तथा रख-रखाव पर निर्भर रहा है।

कम ऊँचाई के वलयों से कूपों के निर्माण में अधिक वलयों की आवश्यकता पड़ती है। चूँकि वलयों की दोनों किनारी मोटी होती है अतः अधिक वलयों के होने से अधिक किनारियाँ प्राप्त होती हैं जो कूप को अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता प्रदान करती हैं। इसके ठीक विपरीत, वलयों की ऊँचाई अधिक होने से कूप निर्माण में कम वलयों की आवश्यकता पड़ती है जिससे नीचे के वलय पर भार कम पड़ता है परन्तु वलयों का मध्य भाग कमजोर होता है, फलस्वरूप वे शीघ्र टूटते हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कूप का भीतरी दबाव बाहर की ओर अधिक बढ़ने के फलस्वरूप वलयों के टूटने की घटनाएँ प्रायः होती हैं।

प्रदूषण की रोक-थाम के लिए लोगों ने वलय-कूपों का निर्माण किया परन्तु उन कूपों से निकलने वाले प्रदूषित वायु की रोक-थाम के लिए उन्होंने किस प्रकार की व्यवस्था की थी के संकेत नहीं मिलते। सम्भवतः कूपों के मुख भाग पर लकड़ी की क्षैतिज पट्टियों को रखकर लगभग एक-चौथाई भाग को अवश्य ढँका जाता रहा होगा।

ऐसे कूपों जिनमें टूटी-फूटी वस्तुओं को भी मानव फेंकता रहा, वे कूप अल्प काल में ही भर जाने के कारण अपनी उपयोगिता खो बैठे, परिणामस्वरूप आगे के उपयोग के लिए उसके बगल में दूसरे कूप को खोदने की आवश्यकता पड़ी। यदि उनमें केवल प्रदूषित जल को ही विसर्जित किया जाता तो उनका जीवन-काल दीर्घकालीन होता तथा भवन के आधार की ऊँचाई बढ़ाने के साथ-साथ उन्हीं कूपों की ऊँचाई भी ऊपर के भाग को निर्मित कर बढ़ाई जा सकती थी परन्तु पुनर्निर्माण के संकेतों के अभाव के कारण उनके दीर्घकालीन उपयोग के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला जा सकता। नालियों में जालियों के प्रयोग के संकेत नहीं मिलते अतः विशेष सावधानी बरतने के पश्चात् भी अघुलनशील पदार्थ भी कूपों में पहुँच कर उसकी तली में निक्षेपित होते रहे साथ ही वलय-कूपों तथा भाण्ड-कूपों के मध्य की क्षैतिज झिरी से बारीक मिट्टी, जल के सम्पर्क में आकर अन्दर पहुँच कर भी निक्षेपित होती रही और वलय-कूप को शीघ्र भरने का कारण बनी।

संदर्भ सूची

1. थपलियाल, किरण कुमार तथा शुक्ल,संकटा प्रसाद सिन्धु सभ्यता, लखनऊ, 1976.
2. शर्मा, आर. के. मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974.